

उसका आकाश

उसके हिस्से में उतना ही आकाश था जितनी खिड़की की तरफ मुंह करके चारपाई पर लेटे-लेटे दिखता था और उतनी ही हवा जितनी उस समय इमारत की पहली मंजिल पर एक ओर बने कमरे के दरवाजे से आ सकती थी।

यह तो वह भी जानता था कि आकाश इतना ही नहीं है, जितना उसे दिखता है, जैसे जीवन उतना ही नहीं है जितना सा उसका है। वर्षों से इस छोटे से कमरे में इस खाट पर, दवाइयों की कतारों से घिरा, पसीने की चिपचिपाहट में बार-बार टंडा-गरम होता।

जीवन कितना है, इसे जानने के लिए जीवन के प्रांगण में जाना होता है। वैसे ही, जैसा पूरा आकाश जानने के लिए आकाश के नीचे आना होता है। बाहर अपने से बाहर, विराट नीलिमा के अमाप विस्तार को आंखों में, बांहों में भरना होता है, उसे महसूस करना होता है। वह बांहों में नहीं भी आ जाता, तो भी आंखों में उतरता है—अचूक।

बाहें...? उसने अपने बाएं हाथ से अपनी दाईं बांह को छू लिया... पूरा छू लिया... पूरा छूता रहा, परंतु कोई स्पन्दन नहीं हुआ। डॉक्टर कहते हैं, उसका दायां भाग मर गया है, क्या ऐसा भी होता है—व्यक्ति आधा मर जाए, आधा जीवित रहे? आधा अपना हो, आधा पराया? आधा सुख-दुख स्पर्श-संवेदन सह सके, आधा जड़ हो जाए...? जैसे कुछ खूंटी पर टंगा हो और नीचे चलता संसार उसे देखता हो—कुछ म्रत, कुछ जीवित...

उसे जोसेफ की याद आई और इस तस्वीर की—खूंटी पर टंगे उस लहू-लुहान शरीर की। जोसेफ कहता था—ईसा दिव्य हैं क्योंकि उन्होंने सबके पापों का प्रायश्चित किया। किसी को अपने पापों का फल नहीं भोगना, किसी को पाप के निषेध के लिए प्रयत्नशील नहीं होना। पाप करते रहने की पूरी छूट है क्योंकि पाप-निवारण कि लिए ईसा-दिव्य ईसा—अपना बलिदान देते रहेंगे।

नहीं-नहीं, वह अपने को शहीद मानकर शहीद नहीं हो सकता। बड़ी बहू आती है तो लगता है, उसके मुख पर लिखा है, 'यह सब तुम्हारे पापों का फल है, तुम्हारे अपने पापों का और थोड़ा-बहुत हमारे पापों का भी कि तुम्हारा गू-मूत, नाक-थूक समेटना पड़ता है।' उसे अमरो की याद आती है।

कभी बहुत आप्लावित होती है तो कहती है, 'आशीष दो, तुमसे पहले जाऊं, सुहागन मरूं। तुम्हारे हाथ से ही मेरी चिता जले।'

आशीष तब वह उसे दे देता था क्योंकि तब वह उसे चार बच्चों की मां न लगकर एक छोटी अबोध बच्ची लगती थी, जिसे अपने डैनों में छिपा लेना आसान जान पड़ता था... तब वह छाती भी गुब्बारे जैसी फुस्स नहीं थी...। तब क्या मालूम था कि उसकी मांग इतनी अबोध और यह यह आशीष उतना सस्ता नहीं है? यह बीच रास्ते में अकेला छूट जाने... आधे जीवन, आधी मृत्यु को एक साथ झेलने की अग्निपरीक्षा है, वह भी उसके बिना... उसके अधिकार, ममत्व, दीप्ति, प्रीति के बिना।

वह होती तो उसे रोज-रोज बड़ी बहू का सामना न करना पड़ता। रोज के अनाम से तिरस्कार की पैनी अनी से छिंदना न होता।

कितनी मौतें... कितनी अधिक मौतें एकसाथ जी सकता है मनुष्य!... फिर जीवन के पूर्ण स्थगन का ही नाम मृत्यु क्यों है? मृत्यु वह है जो महसूस हो... जो महसूस करते होती हो, जैसे उसकी हो रही है। उसका आधा भाग मर चुका है। उसका जीवित भाग मरने की प्रतिक्रिया में है। वह इस प्रक्रिया स्पष्ट को देख पा रहा है।

जिस दिन... जिस किसी दिन वह पूरा मर जाएगा, मिट्टी का ढेर होगा— पूरी तरह स्पन्दनहीन, अनुभवहीन, बोधहीन मृत्यु... तब उसमें क्या जानना होगा! वह तो 'होना' होगा... एक अंत का होना।

वरुण— उसका पोता— धड़ाके से कमरे में घुसता है, 'बाबा! मां कहती है दूध लाऊं?'

उसने बांया हाथ उठाकर अपनी आंखें पोंछ ली। दाईं ओर पतली—सी धार बहते हुए उसे महसूस ही नहीं हुई, निशान बनाती रही।

'तू दूध पिलाएगा ना?'

'हां बाबा! मेरे स्कूल जाने से पहले ही पी लो। मां को सुबह बहुत काम रहता है...;

‘हां, हां,’ किसी अबूझ आवेग से फिर उसका गला भर आया, ‘हम तुम्हारे रहते ही दूध पिएंगे... तुम्हारे ही हाथ से बेटे।’ संकट की एक घड़ी तो टलेगी। आंख के भाले से, आंख के रास्ते ही सारे अस्तित्व को छेद डालना... दुखियारी बड़ी बहू।

वरुण दूध ले आया। एक स्टूल लेकर पास बैठ गया। एक-एक चम्मच... आधा गिलास खाली हो गया।

‘बाबा! तुम कहानी कब सुनाओगे...? बाबा! तुम कब नीचे चलोगे?’

वह कुछ उत्तर नहीं दे पाता। उसे दूध गटकने की जल्दी है। पेट के ठेठ नीचे गुड़गुड़ाता, लहरें लेता लेता जानलेवा खालीपन और वरुण के स्कूल का रिक्शा आ जाने की चिंता।

वह उत्तर नहीं देता.... वरुण को कुछ भी वापस नहीं करता... कहानी नहीं, सैर नहीं, बातें नहीं, आमोद नहीं, हंसी नहीं... एक दिन वरुण भी...

वह डरता है। जिस किसी को वह कुछ वापस नहीं दे सकता, वह उसे देना बंद कर देता है... भगवान भी। मील-मीलभर से अच्छे-अच्छे, ताजे-ताजे, नए-नए फूल लाकर भगवान पर चढ़ाने की बात याद आती है उसे। यादों में लौटना व्यथा का अथाह बन जाता है सदा, जिसे तैर कर पार कर पाने की उसमें शक्ति नहीं... डूबता जाता है वह, सर्वांग डूबता है...

वरुण के रिक्शे का भौंपू भौं-भौं करने लगता है। एक-चौथाई दूध अभी भी गिलास में बचा है। वरुण का धीरज नहीं... उसके पैरों में ताकत पनप रही है। जीवन उसके आगे प्रलोभन भरी चाल से दौड़ रहा है...। आवाज सुनकर वह स्टूल पर बैठा नहीं रह सकता। उसके बस चले तो छत से कूदकर सीधा नीचे पहुंच जाए।

‘बाबा, जल्दी करो! मेरा रिक्शा...’ और बचा हुआ दूध एकसाथ उसके मुंह में उलटकर वह भाग निकलता है। दूध होठों के कोनों से बहकर गले तक चला गया है। एक चिपचिपाहट-सी ऊब उससे चिपक गई है जो तौलिये से पोंछ लेने पर भी नहीं जाती।

कमल उसका बेटा है- कमरे में आता है, ‘कैसे हैं बाबूजी? आज कैसा लग रहा है?’

उत्तर देने को होता है, पर लगता है सवाल जिसने पूछा है, उत्तर उसे भी अपेक्षित नहीं है, क्योंकि वह तो इतना कह कर... अच्छे होने की चिन्ता को हवा में उछालकर... गुनगुनाता हुआ जूते कस रहा है। अपनी चीजें बटोर रहा है...। यह तो कमरे में घुसने के लिए मौन भंग के रूप में दी गई चुंगी है, चुंगी। टोल टैक्स। हर हद में घुसने से पहले देना पड़ता है।

वह उत्तर न भी दे, और दिनों की तरह 'ठीक हूँ' न भी कहे तो भी क्या फर्क पड़ेगा...? शायद पड़ेगा। उसने उत्तर नहीं दिया, चुप पड़ा रहा। उत्तर न देने से सचमुच फर्क नहीं पड़। उसका बेटा अपनी चीजें उठाकर चलता बना। अपने सही हो जाने का उसे गहरा मलाल हुआ। इससे तो अच्छा था, वह उत्तर देता...। उसका उत्तर देना उसके अपने लिए अनिवार्य है, एकदम अनिवार्य। संवाद को कायम रखने की जरूरत उसकी है, मात्र उसकी। इन लम्बे-लम्बे दिनों और काली-काली रातों के अटूट संवादों में आवाज बनाए रखने की गरज भी उसकी है, मात्र उसकी... इतना मान-अभिमान वह किसी को नहीं कर सकता। अमरो की बात और थी। मनाने की ऐसी-ऐसी तरकीबें करती कि बस...। 'तुम दुष्ट हो' वह यही शब्द कहना चाहती थी। उसका बेटा होता तो कह डालती, उसको नहीं कह सकती थी..., उसकी इस असमर्थता का खूब आनन्द लेता था वह, वह निहाल होकर उसकी छाती में मुंह ठूस लेती थी अपना।

सांझ हो गई। दिन कैसे ठिठक-ठिठक कर गुजरत है, जैसे उसकी छाती पर कोई पत्थर रखा हो... और रातें हूक-हूक कर- कुत्तों की रार और चौकीदारी के लट्ठों की आवाज से रात का सीना ठकठोरतीं।

झुटपुटे में वरुण अंदर घुसा है...। 'बाबा, बाबा यह तो साथ वाला मैदान है न, वहां मकान बन रहा है... उसे सारा खोद डाला है... अब हम कहां गोलियां खेलेंगे बाबा?'

'यहां, इस कमरे में खेलना।'

'यहां?' उसकी आंखें आश्चर्य और अविश्वास से फैलती जाती हैं। 'यहां कैसे खेलेंगे, इस छोटे से कमरे में? ... फिर पप्पू, सोनू, विक्की सब यहां थोड़े ही आ सकेंगे। मां तो कहती है, बाबा के कमरे में शोर मत मचाओ।'

'नहीं-नहीं, तुम यहां खूब शोर मचाओ, खूब खेलो... मैं भी तुम्हारा खेल देखूंगा।'

‘सच बाबा...? तुम भी बचपन में गोलियां खेलते थे?’

‘खेलता था...? तुम भी बचपन में गोलियां खेलते थे?’

‘खेलता था...,’ अमोद और आत्मदया कहीं भीतर गडमड होने लगी। उसने वरुण को अपने बाएं हाथ के घेरे में लेना चाहा परन्तु उसकी पीठ...। प्रयत्न छोड़ दिया और धीरे से बोला, ‘मैं यहां लेटे-लेटे देखूंगा, किसकी गोली किसे लगी है?’

‘बहुत अच्छे!’ वरुण उछलता है और दोनों हाथों से तालियां बजाता है। ‘अब पप्पू मेरे साथ बेइमानी नहीं कर सकेगा... मेरी ही गोली लगी, तुम हर बार ऐसा ही कहन बाबा... मेरे अच्छे बाबा!’ उसके पिचके गालों पर वह रक्त की ताजी गंध वाली नरम हथेलियां फिरा देता है। ‘अच्छा, अच्छा...!’ इस ममत्व से उसकी आंखें छलक आती हैं। बेइमानी करना अच्छा नहीं है, वे जीवन में होती अच्छाई-बुराई के विवेक का बोझ खुद संभालें।

दो दिन... चार दिन, बच्चों ने खूब ऊधम मचाया। उसके पत्थर जैसे दिन हवा के पंखों पर उड़ने लगे। बच्चे तो शाम को ही गोलियां खेलने आते हैं, पर शाम की प्रतीक्षा तो होती है... कुछ तो होता है... कुछ न होने का अभिशाप तो टूटता है।

पर चार ही दिन में बच्चे ऊब गए। पप्पू की मां ने उसे यहां आने से बरज दिया। सोनू की गोली दीवार से टकराकर टूट गई। विक्की अपने घर में शेर हो जाने वाली वरुण की बेइमानी से नाराज हो गया और बोला, ‘हम तेरे बाबा के कमरे में नहीं खेलेंगे, तेरी-मेरी कुट्टी!’ वरुण ने घबराकर अपना नया मैदान ढूंढ़ लिया, दो गली पार। साथ को साथ प्यारा। यह मन मारकर चुप हो गया।

कमरे में पहले से भी ज्यादा सन्नाटा छा गया...। हवा पहले से ज्यादा ठंडी... पहले से अधिक धूमिल आकाश का टुकड़ा।

नीचे ठक्-ठक्-ठक्... शायद नीवें खुद रही हैं। अच्छा हुआ, जब मैदान था तभी उसने मिनी की शादी कर दी। इधर दरवाजे से निकलो, उधर मंडप में घुसो। नहीं तो चौकवाले बरातघर में सब सामान ढोकर ले जाना पड़ता। पड़ता तो क्या, नीति

की शादी में ले ही गए थे... रामनाथ क्या हुलसकर कहता था, 'तू बड़ा हिम्मती है भाई।'

हिम्मत...? उसने फिर अपने बाएं हाथ से दायां हाथ छू लिया। घबराकर चाहा कि आंखें मूंद ले... पर आंखें मूंद लेने से सब कुछ तो नहीं मुद जाता... हर दर्द घात लगाए झपटने को बैठा रहता है अंदर। लट्ठों और बल्लियों के मचान चढ़ गए। ठा, ठक्-ठक्-ठक्, धम्म-धड़क, दे-ले की मिली-जुली आवाजें...सारी चेतना कानों में जकर ध्यान से, जैसे सत्यनारायण की कथा सुन रही है। कुछ तो हो रहा है कहीं। सुना जा रहा है... आवाजें आ रही हैं। देवकी कमरे में आया तो उसने कहा, 'देवकी, साथ वाला मकान बन रहा है न?'

'जी मालिक! पिरथी बाबू का छोरा अमरीका सो आवत रहा दुई मंजिल चड़ाहा चाहत है...'

'कितना बन गया?'

'काफी हुई गवा मालिक! मसीन सों करत रहिन, सीमेंट मिलावत हैं। आवाज आवत रही न मालिक...! निच्चे वाला तय्यार हुवा चाहत है...'

'देवकी!'

'जी मालिक!'

'मेरी खाट उधर दरवाजे के सामने दीवार से लगा दे।'

खाट इधर आ जाने पर उसे भला सा लगा। कमरे का एंगल बदल गया... कुछ चीजें दूसरी तरह दीखने लगीं...। उसे कस्बे के मकतब के लीचड़ से झाड़ंग मास्टर की याद आई। बड़ी-सी मेज पर एक बदरंग चौकोर सा गमला रखकर कहता था, 'अपने-अपने एंगल से देखकर गमला बनाओ!' झाड़ंग से उसे सख्त नफरत थी। देवी सिंह ने एक बार उसकी झाड़ंग बना दी थी तो मास्टर ने बेंतों से उसे उधेड़ डाला था। कहता था, 'एक का एंगल दूसरे का एंगल नहीं हो सकता, तुमने जरूर किसी से बनवाई है।' फिर एक-एक लड़के की सीट पर बैठकर उसने उसकी चोरी जांच ली थी। यह तो अच्छा हुआ कि एंगल की पढ़ाई जल्दी छूट गई... पर एंगल

की पढ़ाई कहां छूटती है...! साथ लगी रहती है... बदले हुए एंगल से अभी भी कमरा नया-नय सा लगता है।

बगल से आती, एक-दूसरे में उलझती आवाजों में एक-एक को पहचान कर, अलग-अलग करके उसे नया सा सुख मिलता है... जैसे इस सारे शोर से बुने जाते मोटे से रस्से का तार-तार उसने अलग कर दिया हो... अपनी ताकत से, अपनी कर्णद्रियों की सूक्ष्म संवेद्यता से...।

फेफड़ों में ढेर सी हवा भर कर छाती फुला लेने की उसकी इच्छा हुई पर... पर सांस नामुराद टूट-टूट गई... श्रमाहत होकर वह चुपचाप लेट गया... आवाजें तो उसके खाट पर चिपक जाने के पहले भी थीं और रही होंगी, परंतु तब वह आवाज पैदा करने वालों के अखाड़े में था... जीवन के पिछवाड़े नहीं।

जब से राज-मजदूर लगे, एक स्वर-पगी सक्रियता छा जाने से वह कुछ प्रसन्न सा रहने लगा हैं। जीवन-मृत्यु की इस लुका-छुपी में भी जीवन किसी न किसी आवाज से पहचान लिया जाता है... सिर से पकड़ लिया जाता है... कब नीवें खुदीं, कब मचान बंधे, कब पत्थर कुटे, कब ईंटें टूटीं, कब गारा सना, कब लेंटर डाले गए, कब पाइप से पानी झर-झर झरा, लोहे की कड़ाहियों में कब सीमेंट का खुर्पी से संवाद छिड़ा, कब दीवारों पर पुता, कब बढ़ई लगे, दरवाजे-खिड़की टुकीं, शटर लगे, बिजली लगी।

वह सब कुछ सुनता-समझता रहा। दूसरी मंजिल चढ़ जाने पर जितना हुआ देखता भी रहा- सामने मजदूरों का आना-जाना, दोपहर में ओट में बैठ पसीना सुखाना, पोटलियां खोल-खोलकर खाना खाना, टीन के डिब्बे में पानी भर-भरकर मुंह में उलटना और लंबी डकार लेकर बीड़ी सुलगाने बैठना।... पृथ्वी सिंह की व्यस्तता से घनी होती जाती भौंहें और छत गुंजाते आदेश...

कुछ न कुछ हो रहा है। चल रहा है। छोटे से बड़ा हो रहा है। कहीं निर्माण हो रहा है... सब कुछ उसकी तरह मौत के गले में नहीं डाला जा रहा।

मकान को बढ़ता देख उसे आशा होती है कि उसके बाद भी दुनिया रहेगी। जो मकान आज बन रहे हैं, उनमें लोग रहना शुरू करेंगे और पीढ़ियों तक रहेंगे, जैसे वह अब तक अपने परदादों के मकान में रहता आया है। आज की बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएं जब गिरने को होंगी, उससे पहले नए मकान बन चुके होंगे। उन्हें सामने लेटा, बैठा, झरता हुआ कोई जीवन देखे या न देखे। जीवन को देखे जाने

के साक्षी की जरूरत कहां है? साक्षियां उठती जाती हैं, जीवन तब भी चलता रहता है, सतत। इस निरंतर बहती धारा को साक्षी की तरह देखते हुए गुजर जाने वाला वह अकेला नहीं है, यह सोचकर उसे कुछ संतोष सा हुआ।

पर यह संतोष कुछ घड़ी ही टिका। वह यह सोचकर अधीर हो आया कि यदि मकान बन गया तो फिर पहले जैसा सन्नाटा छा जाएगा।

अकेले लंबे दिन-रात ठिठक-ठिठककर, कलेजे पर अपना वजन महसूस कराते हुए गुजरेंगे। बड़ी बहू उसी तरह दौड़ती-दौड़ती आएगी... यह-वह अलमारी खोलेगी, चली जाएगी। कमल आएगा, कुछ औपचारिक आवाजों का टोल-टैक्स देकर चलता बनेगा। वरुण के मित्रों को यहां गोलियां खेलना नहीं भाएगा, वे तीसरी गली में दौड़ जाएंगे... हर किसी को दौड़ना है, भागना है, जैसे नीचे हर किसी का कुछ न कुछ कहीं इंतजार कर रहा है, होड़ लगी है। पर किसी ने सोचा है कि जाना कहां है? लौट-फिरकर, इसी तरह ही किसी खाट पर बर्फ होकर पड़ जाना है।

उसे यह सोचकर छटपटाहट होने लगती है कि हर कोई यह जाने बिना कि उसकी दिशा क्या है, भाग-दौड़ कर रहा है। हर किसी की वही एक दिशा है। हर किसी का भविष्य मौत के मुंह में पड़ा हुआ है, फिर भी...

उसे लगता है, वह हर किसी को रोककर, टोककर, बरजकर कहे, 'मुझे देखो,, मैं तुम्हारा भविष्य हूं,' परन्तु किसी को फुर्सत नहीं क्योंकि भविष्य कभी भविष्य बनकर नहीं दिखता, वर्तमान बनकर ही सामने आता है। अतः लोग भविष्य को साक्षात् देखकर भी नहीं पहचानते। इससे तो अच्छा था वह बाहर, सड़क पर, किसी खूंटी पर टंगा होता- थोड़ा जीवित, थोड़ा मृत- और लोग उसे देखकर अपना भविष्य जान लेते, थम जाते। जीवित रहने का ऋण यहीं, इसी जीवन को वापस देते हुए जाते ताकि आगे- यदि कोई आगे है तो- पापों के फल के लिए कोई किसी को तिरस्कार भरी आंखों से न छेद सके।

उसे लगा कि मुक्ति का रास्ता है इन सब बातों को जान लेना। पर यहां तक पहुंचे बिना कोई जानना नहीं चाहता, नहीं जान पाता। सब अलग-अलग अपनी-अपनी सूली चढ़ते हैं। कोई किसी के काम नहीं आता, कोई किसी का गुरु नहीं बनता, कोई किसी के दुख नहीं बांटता... उसका दिल डूबगया। वह फिर पसीने से तर होने लगा।

उसका डर सच निकला। मकान बन जाने से सममुच सन्नाटा—सा छा गया, अब?

आगे सोचने से वह डरा, पर डर से रक्षा नहीं होती। डर मन के अंदर है, और मन मनुष्य के अंदर। बाहर होता तो कनखजूरे की तरह उठाकर फेंक दिया जाता।

सामने छत पर कुछ खटर—पटर हुई। उसने आंख फिराई। बचा—खुचा सामान बटोरकर ले जाने की तैयारी हो रही है...अब सफाई होगी, फिर धुलाई, फिर रंग—रोगन, उत्सव, लोग रहने लगेंगे, खटेंगे, बीमार पड़ेंगे... खाटों पर पड़े—पड़े रोग से, जरा से, अकेलेपन से सड़ेंगे, मरेंगे— आधे, चौथाई, पूरे... उसी की तरह मरेंगे।

‘उसी की तरह’ मरने को उसने फिर महसूस करना चाहा। बाएं हाथ से दाएं हाथ को छू लेने की कोशिश की...कुछ भी नहीं हुआ... अपना मरना भी महसूस न हुआ।

क्या मर जाना इतना निशब्द, इतना सामान्य, इतना साधारण होता है कि शरीर के अर्द्धांग में होता रहे और बोध भी न हो? मृत्यु ऐसी होती है क्या?

मृत्यु किसी दिन आए तो शायद उसे पता ही न चल पाए। शायद वह सामने वाला मकान देखता हो... बादलों से या धूप से या तारों से भरा आकाश देखता हो, या पड़ा सोता ही हो।

उसका जी चाहा कि मौत उसे सोते में न आए। वह उसे देख सके, समझ सके। जिस ‘होने’ को वह घड़ी—घड़ी, पल—पल देख रहा है। उसके पटाक्षेप—दर्शन का अधिकार उससे छीन न लिया जाए— इस दुनिया में उसका बच रहनेवाला अंतिम अधिकार। उसकी आंखें आकाश में गड़ी रहें और वह डूबता रहे— सांस दर सांस।

उसने व्यस्त—सा होकर देवकी को आवाज दी— एक बार, दो बार, तीन बार। कोई नहीं आया तो उसने अपने पास रखा स्टील का गिलास उठाकर टीन की कुर्सी से खड़खड़ा दिया। वरुण आ, ‘क्या है बाबा, क्या बहुत देर से बुला रहे थे?’

‘नहीं बेटे! जरा देवकी को भेजना।’

देवकी से उसने कहा कि उसकी खाट वह पहले वाली जगह पर खिसका दे।

देवकी बोला, 'हाथ सने हैं मालिक। अबहिन आवत हैं।'

अब उधर ही जाना ठीक है। इधर सन्नाटा हो गया है। अब यहां कुछ नहीं। मकान बन गया है। इस मकान के अंदर जीता जीवन अब मौत के रास्ते चलने लग गया है... ऐसी मौत के किनारे क्या ठहरना? इससे भीषण मौतें वह अपने भीतर रोज जीता है, साथ लिए फिरता है...

'संभलियो मालिक!' देवकी ने आकर कहा और उसकी खाट यथास्थान कर दी। छह महीने बाद वह इधर आया। उसे कुछ राहत हुई। तकिये बदलवाए। चिलमची इधर रखवाई। दवाइयों की टेबल इधरवाली दीवार से सधवाई। पानी का गिलास इधरवाले सिरे पर रखवाया।

एंगल बदल जाने का नयापन फिर से महसूस हुआ, फिर उसे लीचड़ ड्राइंग मास्टर की याद आई, फिर हंसी आई, फिर वही सोच आई... और निश्चिंत सा हुआ, जैसे वह अपने मरने के अंतिम स्थान पर आ गया हो... यहां लेटा-लेटा, आकाश, देखता वह डूबता रहेगा— सांस दर सांस।

उसने अपना एक ही सक्रिय हाथ बारी-बारी से दोनों आंखों पर फिराया, जैसे कुछ जल्दी न हो। मकान बन चुकने के बाद अब तो जो कुछ है, यहीं टिके रहना है... उसे उसकी आंखों में बने रहना है, और मौत की घड़ी तक उसे ही देखते-देखते डूबते रहना है।

लालसा से उसने आंखें खोली तो सन्न रह गया। कहां है आकाश? सामने दीवार उठ आई थी और उसके हिस्से के आकाश को सीमेंट का एक आयताकार टुकड़ा हड़प कर चुका था।

इतनी छटपटाहट तो उसे मौत के मुंह में दिया हुआ सारे संसार का भविष्य देखकर भी नहीं हुई थी...

ठहरो, इंतजार हुसैन

यह तब की बात है, जब इंतजार हुसैन की 'बस्ती' छपी थी। खबर पाते ही वह बाजार गया था और किताब खरीदकर उसने अपने सिरहाने के रैक में रख दी थी।

रखते समय फिर उसने किताबों को गिना था। देश के बंटवारे को लेकर लिखी गई यह दसवीं किताब थी। इन किताबों में उसके जीवन का कोई जरूरी हिस्सा बंद है। उसे विश्वास था कि किसी न किसी दिन उसे इनकी जरूरत पड़ेगी। वह इनको पढ़ते समय अपनी जिंदगी को पढ़ रहा होगा।

जिंदगी चलती रही थी। दिन गुजरते गए थे। जरूरत नहीं पड़ रहीं थी। एक दिन पत्नी ने कहा था— 'इन किताबों को परे हटाओ। बच्चों को रैक चाहिए।'

उसने पत्नी को घूरकर देखा था। पत्नी ने कहा था वह उसे इतना घूरकर न देखे। अब वह उससे पहले की तरह डरती नहीं। कयामत जैसी चीज सिर से गुजर चुकी है। अब उसे कभी भी, किसी भी बात से डर नहीं लगता।

उसने अपनी घुड़की में जान-बूझकर कड़क पैदा करने की कोशिश की थी। कभी-कभी आसान होता है इस तरह जवाब देना, काम निकालना। सौ सुनार की एक लुहार की।

'कई बार कह चुका हूं कि यह रैक यहीं रहेगा मेरे सिरहाने। ये किताबें भी यहीं रहेंगी। जो कोई इसे हटाएगा, मेरा मरा हुआ मुंह देखेगा।'

यह वह बात थी जिसके बारे में वह कहा करता था कि एकदम औरताना दलील है। कुछ और समझ में नहीं आया तो बात को मरने-मराने तक घसीट लाए— इमोशनल एक्सप्लॉयटेशन।

इस वक्त उसने खुद ऐसी बात कही थी क्योंकि उसकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि रैक खाली न करने के हक में इससे कड़ी बात और क्या हो सकती है?

सुनकर पत्नी के गालों की गुफा में एक फूत्कार सचेत हुई थी— लाचार जैसा क्रोध। यह नहीं कि उसे पति की धमकी पर विश्वास था, पर पति ऐसी धमकी दे तो वह इसे लांघ जाना दिखा तो नहीं सकती।

गत्ते का डिब्बा जो वह रैक की किताबें पैक करने के लिए लाई थी, उसने वहीं जमीन पर पटक दिया और बच्चों के कमरे की दिशा में आवाज बुलंद करके बोली— 'नहीं है कोई रैक—वैक। जहां चाहो पटको किताबें... तुम्हारे दादा को हर चीज सबसे पहले चाहिए।'

बच्चे वहां कहीं नहीं थे, जो सुनते। जानता था उसे सुनाया जा रहा है। बच्चों की जरूरत को उसके हठ के आमने—सामने रखकर। उसे नीचा दिखाने के लिए।

वह यह भी जानता है कि रैक जहां है वहीं रहेगा, वहां से हट नहीं सकता। इन किताबों को उसके सिरहाने ही रहना है। किताबों में बंद इबारत में उसके जीवन की धपधप छिपी है। किसीदिन उसे जरूर वक्त मिलेगा। किसी दिन जरूर वह इन इबारतों में से गुजरेगा, अपना अतीत पढ़ेगा... किसी भी दिन।

वह दिन अगर आज तक नहीं आ तो भी क्या, उसकी ऐसी विकट इच्छा के रहते आएगा तो जरूर। कहीं ऐसा न हो सामने से हट जाने से किताबें हमेशा के लिए तहखानों में चली जाएं।

क्षुब्ध पत्नी शाम तक उससे नहीं बोली। अगले दिन भी कुट्टी कायम रही। सफेदी के बाद कमरे के दूसरे कोने में सामान व्यवस्थित करने के लिए वस्तुओं का जो ढेर बनाया गया था, उसी ढेरी पर सबसे ऊपर बच्चों की किताबें आड़ी—टेढ़ी लाद दी गईं। यह उसे जताने के लिए था। वह चाहती तो कोई और कोना तलाश सकती थी।

उसने ध्यान न देने का मानसिक फैसला किया। ढेरी धीरे—धीरे छोटी होते—होते गायब हो गई। बच्चों को और कौन सा कोना मिल गया है, उसने जानना जरूरी नहीं समझा। बदस्तूर फर्नीचर बनाने के कारखाने में अपने काम पर जाता रहा।

अगर... अगर... अगर उसे पता होता कि उसकी पत्नी की जिंदगी इतनी छोटी है और वह उसे छोड़कर इतनी जल्दी मरने वाली है, तो वह अपन हठ जरूर त्याग देता। उन किताबों को अपनी ही खाट के नीचे पटला बिछाकर रख लेता।

उसे नहीं मालूम था। किसी को कुछ भी मालूम नहीं होता। घटने वाली चीजें हमारी मर्जी के बिना ही घट जाती हैं। बात तो सिर्फ छाती में तेज दर्द की थी, मरने की तो नहीं थी... फिर क्यों मर गई? देखते ही देखते उसकी बांहों में झूल गई, जैसे चिढ़ा रही हो— 'लो अब संभालो सब। बच्चे, रैक, किताबें, जगह, सब का सब। वह अब कभी बीच में नहीं आएगी।'

वह खून का घूंट पीकर रह गया। जगह की बत पर उतना नहीं, ढेरोंढेर दूसरी बातों पर। यह अधबीच रास्ते में छोड़ जाने की उसकी पत्नी की बेईमानी... आपस में लड़ना तय था पर यह सब कहां तय था?

उन दिनों पसलियों के पिंजर को सर्द हवा ज्यादा चीरने लगी थी। दिल भी कुछ ज्यादा ही दुखता था... पर दुखने का क्या रोना?

अब उन किताबों की खाट के नीचे पटला रखकर रखने की जरूरत नहीं रह गई थी। वह खुद ही वहां से हट गया था। कमरा बच्चों को दे दिया था। बैठक के तख्त पर अपना बिछावन बिछा लिया था। बच्चों के लिए नया रैक लाकर रख दिया था। अपना रैक अपने सिरहाने ले अया था। उसी तरह। अपनी उसी अचूक जरूरत के आदर में...

आज से पहले उसने शायद कभी सोचा भी न हो कि पत्नी और किताबों में वैसे भी कोई रिश्ता नहीं बनता। किताबें रखी रहती हैं, क्योंकि उनका जीने में से गुजरती जिंदगी से कोई वास्ता नहीं। एक-दूसरे की सरहदों में कोई आवाजाही नहीं। होती तो देश-विभाजन के इतने बड़े हादसे पर उसके हाथ लगतीं इतनी सी किताबें। यहूदी अच्छे निकले जिन्होंने अपना दुखड़ा तरल करके सारे संसार की धमनियों में बहा दिया। क्या कोई सूरमा नहीं था यहां— इन दो सरहदों के बीचोबीच!

खुद ही लगा वह गलत सोच रहा है, लिखने वाले और होते हैं उखड़ने वाले और। उखड़ने वालों को इबारतों में उलझने की फुर्सत ही नहीं। पैरों तले पड़े अंगारों को हथेली पर रखकर देखने की हिम्मत भी नहीं। अब वह अपने आपको ही देख ले। किताबें सिरहाने रखी बरसों से उसे पुकार रही हैं और वह?

शायद इन किताबों को उसने पढ़ लिया होता तो वह मोह-माया छूट जाती, इतनी जकड़न कम हो जाती। इनमें लिखा हुआ सब कुछ उसे भी किस्से-कहानियों की तरह लगता। मन से भी बीत जाता। अभी तो वह ठीक से जानता तक नहीं कि इनमें क्या लिखा है। इतना जानता है इनमें उसके अतीत के गुम दर्दों का हिसाब बंद है।

आज... आजादी के दिन...

आजादी के जश्न के दिन सुबह-सुबह टीवी के सामने बैठे उसे फिर वैसा ही लगा.. वह बेमतलब, बेहिसाब हिल गया। क्यों हिल गया... क्यों हिल जाता है हर बार... इसी तरह... भीतर तक? क्या कुछ घटनाएं हमारी जड़ों में छिपी नमी में दुबककर बैठी रहती हैं चुपचाप... और स्मृति को लगे जरा से धक्के से अपना सिर उठा लेती हैं? नहीं तो ऐसा क्यों होता कि कमरे में अकेला बैठा, टीवी स्क्रीन पर झंडा फहराने का क्षण आने पर, वह अपने आपको एकाएक कुर्सी छोड़कर जमीन पर खड़ा होते पाता- सिर झुकाए, हाथ बांधे? जय हे, जय जय जय जय हे... की लय के डूबने तक एकदम अचल, निश्चल। यह सब अचानक घटता है, तेज गति से, उसके अनजाने। एक तिथि कैसे सारे वजूद को जगा जाती है? पता नहीं ही लगता कहां, कौन सी डाल हिल रही है?

फुरसत खो गए दिनों को इस तरह हमारे दरवाजों पर लाकर खड़ कर देती है?

जब तक उसकी पोती स्वीटी कमरे में आई, टीवी का आकाश तीन रंगों के गुब्बारों से पटा पड़ा था और वह भीतर से अस्त-व्यस्त था। आज 15 अगस्त है, स्वतंत्रता की चालीसवीं वर्षगांठ।

उफ्! कितना समय गुजर गया है। अपनी रफ्तार में समय के थान को लपेटता गया। जब लाहौर छोड़ा था तो वह 19 वर्ष का था और निक्की की छवि एक जिद्दी की तरह उसकी आंखों में बसी थी। अड़ी थी। अब वह चालीस जमा उन्नीस का है। यानी जंगे आजादी चालीस जमा उन्नीस। छूटा हुआ तब- चालीस जमा उन्नीस। तब से अब तक चालीस जमा उन्नीस- पूरे उनसठ, पूरे फिफ्टीनाइन- एक अधकचरी उम्र, न मैदान में, न पिछवाड़े।

दादा को ऐसे खोया देखा तो स्वीटी एकाएक अधीर हो गई। ऐसी ही बात से चिढ़कर तो वह अपने पापा को छोड़कर आई थी। उससे शिकायत की— दादा, पापा एकदम बेकार हैं। कुछ सुनते ही नहीं। हमेशा अपना ही काम, काम, काम। आज भी काम जबकि स्वीटी की छुट्टी है और उसे रोशनी दिखाने जाना है।

‘रोशनी तो रात को होती है बेटे,’ उसने स्वीटी की भड़कती तेजी कम की।

‘रात को नहीं, शाम को।’ स्वीटी इठलाई।

‘चलो, शाम को ही सही। अभी तो रोशनी होने में दोपहरभर देर है। पर तुम तो जानती हो मेरे साथ जाने का फायदा नहीं है। मैं अगर गया तो पैदल जाऊंगा।’

‘मैं भी आपके साथ पैदल जाऊंगी।’

पर शाम तक तो स्वीटी और पापा के बीच सुलह हो चुकी थी। वह जानता था हो जाएगी। स्वीटी दादा के साथ नहीं जाएगी। गाड़ी में जाएगी, अपने पापा के साथ। दादा से आंख बचाए, मुंह घुमाए कहेगी— ‘ऐसा है न दादा, आप भी हमारे साथ ही चलिए...’

वह हंसा, खूब हंसा, इतना कि आंसू छलक आए। स्वीटी को क्या पता, उसे आज कहीं नहीं जाना है? घर में बैठे रहना है, अकेले। एक सरसराहट कब से उसके ध्यान को दस्तक दे रही है। उसी को खींचकर देखना है— आमने—सामने। अपने को सौंप देना है।

सब घर से चले गए हैं। चारों ओर एक चुप्पी—सी पसरी है, पर मन शान्त नहीं है... क्या शान्त नहीं है? बाहर चुप्पी हो और अन्दर शोर, कितना डरावना—सा लगता है। कुछ और नहीं सूझता तो किताबों के रैक के सामने जाकर बैठ गया।

अब वह किताबों के रैक के सामने है। पहले, झूठा सच! नहीं... आग का दरिया? नहीं, यह भी नहीं... तो फिर? उदास नस्लें? नहीं, यह भी नहीं। अंततः इंतजार हुसैन की बस्ती उसने खींची। छोटी है, लिपट जाएगी। इस किताब का पतलापन ही उसके फैसले का पहला कारण बना।

इतना तो वह जानता था कि किताब तभी तक किताब है जब तक वह रैक में है— दो जिल्दों के बीच बन्द कुछ लम्बी लेटी काली सतरें। रैक के बाहर आएंगी तो कुछ न कुछ और बन जाएंगी।

ठीक ऐसा ही हुआ।

किताब इंतजार हुसैन ने शहर के हवाले से शुरू की थी। शहर की कसमें खाते हुए। पर यह कौन—सा शहर होगा जिसमें उसका नायक जाकिर एक नए देश में अपने पहले दिनों को टटोल रहा है? यह जिज्ञासा उसे सतत कुरेदती रही।

पुरानी जमीन पर उसरा हुआ एक नया देश... और एक नए देश के एक नए शहर में अजनबी नायक अपना पहला दिन ढूँढ़ रहा है। आजादी की आंच से सिंका हुआ पका पवित्र दिन...

समझ में नहीं आया कि पुरानी जमीन पर उसरे इस नए देश की बात पर वह हंसे या रोए। उस आंच की पवित्रता ही तो एक अकेली और उजली चीज थी जो कुर्बान जाने को थी। नहीं तो सब कहीं वही अंधेरा, वही दहशत, वही उदासी।

उसी उदासी, दहशत और अंधेरे की बात थी जो इंतजार हुसैन ने आगे लिखी थी। आगे के हर पन्ने में एक दबी—घुटी खलबली सांस ले रही थी। बहुत कुछ कहा जा रहा था पर कुछ भी साफ नहीं था। जगह—जगह जहां—तहां वारदातें... चलाचली के चर्चे, गोलीबारी, कफर्यू के अंदेशे... कहवाघर में मिलते दोस्तों के बीच 'समराजी दलालों' और 'समझौतापरस्तों' के बारे में बहसें... किसी बड़े हादसे के पहले की हवा को रेतती खिसपिस ही उसको पलटे जाते पन्नों से हाथ लगी।

वह हताश हुआ। लगा, जैसे जलते हुए दायरे के बीचोबीच होकर भी वह बाहर खड़ा हो— अनछुआ।

मन उचाट होने लगा। नहीं, यह सब वह नहीं है जिसे वह पढ़ना चाहता था। तो फिर वह क्या पढ़ना चाहता है, यह भी तो उसके मन में उतना साफ नहीं। खुद नहीं जानता अतीत के कौन से हिस्से पर हाथ रखने के लिए वह इस कदर उतावला है?

घोर उचाट में वह जहां—तहां पन्ने पलटने लगा। मन भटकने लगा। इतना तक तो पता नहीं लग रहा कि वह कौन—सा शहर है जहां उसका नायक यहां—वहां भटक रहा है। गलियों, सड़कों, मोड़ों, चौराहों का जिक्र है पर उनका कोई नाम नहीं, कोई पहचान नहीं। ऐसा तो नहीं कि वह इन सब शहरों के नाम जानता हो। छूमंतर से उग आए नए देश के नाम इतनी जल्दी बदल तो नहीं गए होंगे

अब तक नायक की मटरगश्ती उसके सामने थी— कि अचानक ही आन पहुंच अनारकली बजार का पड़ाव। उसने पढ़ा: 'अनारकली बजार— कुछ खुला, कुछ बन्द.. . भीड़ बहुत, खरीददार गायब।'

आगे की इबारत उसे लगा माल रोड की ओर मुड़ने को है। अब जरा तो रुको इंतजार हुसैन। सांस वापस आने दो। उसका अपना शहर है... सुना तुमने?

शायद इंतजार हुसैन के हाथों में उपन्यास की इबारत थरथरा रही है। उसका लेखक आगे चलने को आमादा है। वह खुद ही ठहर गया। रुक—रुक कर उन सतरों को दोबारा—तिबारा पढ़ता गया। सरहद के उस पार बैठा वह इस समय अपने शहर के चेहरे पढ़ रहा था। दत्तचित्त होकर। गले में उचक—उचककर आने वाली भर्हाट को भूलकर।

अब एक नई आंख उघड़ी थी। वह नायक के साथ चलने लग गया था। नायक को नई जमीन पर चलने में मजा आ रहा था। एक सड़क से दूसरी पर, दूसरी से तीसरी पर, जाने वह कितनी देर चलता रहा। इतने जमाने बाद वह आजाद होकर चल रहा था। इस आशंका के बगैर कि अभी कोई बराबर से गुजरते उसके अंदर छुरा भौंक देगा।

वह शहर में घुसते शरणार्थियों के काफिले के बारे में पढ़ रहा है और मन में गडमड हो रही है। लाहौर से बाहर आते काफिलों में वह खुद भी शामिल हो रहा है। यहां वाल्टन कैम्प है तो वहां डीएवी कॉलेज का कैम्प था।

इंतजार की इबारत के साथ वह आगे बढ़ा। 'शाम नगर में कितने मकान खाली पड़े थे— दरवाजे और खिड़कियां खुले हुए। खुली खिड़कियों से घर में भरा साज—सामान नजर आता हुआ। लगता था जाने वाले बस अचानक दामन झाड़कर खड़े हुए और निकल गए।'

उफ़! तुम्हें यह सब कैसे पता लगा इंतजार हुसैन...? पर तुम्हें इतना तो पता होना चाहिए था कि यह शामनगर नहीं था, संतनगर था।

और...और...और संतनगर में उस अभागे दिन... शाम अभी ढली नहीं थी। पिताजी तेजी से आंगन के बीचोबीच आन खड़े हुए थे। माथे पर घना-सा तनाव और त्यौरियां। कमर के कटाव पर चिपके हुए हाथ। वे चूल्हे की लपलपाती लपटों को एकटक घूर रहे थे जिस पर कांसे की बटलोई रखी थी।

अदरक की गांठ हाथ में लिए मां को आते देखा तो बोले, 'बटलोई उतार दे नीचे।'

'क्यों? दाल अभी पकी थोड़े ही है।'

'उतार दे, बस,' पिताजी की आवाज में आदेश नहीं था, पर आदेश से कुछ कम भी नहीं था।

पिताजी का वैसा तेवर देखा तो मां ने झाड़न से दोनों छोर पकड़ कर बटलोई नीचे रख दी। पिताजी मुड़े, हैंडपम्प से बाल्टी भरी और पानी की मोटी धार चूल्हे पर साध दी। लपटें बुझ गईं। चूल्हा काले घोल से गड़च्छ हो गया।

'अब जरा सुन... पूरे ध्यान से... वे आ चुके हैं। इस गली के सिरे पर हैं...। जल्दी कर... अभी के अभी चलना है।'

'कहां?'

'कैम्प में... डीएवी कॉलेज के कैम्प में। घरों में रहते हिफाजत का दिलासा नहीं दे रही सरकार। अभी वहीं रहना होगा... जल्दी कर... जल्दी रख ले दो-चार जोड़े।'

वे कैनवस के लम्बे थैले में कम्बल ठूस रहे थे।

मां, पिताजी के इस असंदिग्ध आवेश से खिंचने लगी थी। घबराकर बोली... 'वो तो मैं रख लेती हूं, पर ऊपर के सब खिड़कियां, दरवाजे खुले पड़े हैं।'

'वो तू छोड़ इस वक्त खिड़कियां-दरवाजे... जल्दी बाहर निकल। जानती नहीं।' पिताजी मां के कान में फुसफुसाकर कुछ कहने को उद्यत हुए थे।

‘रुकिए, मैं बंद करके आता हूँ।’ कहकर वह सीढ़ियों की आरे सरपट भागा था। पर बीच की मंजिल के खिड़की-दरवाजे बंद करने की सुध उसे कहां थी? उसे तो जल्द से जल्द निक्की को आगाह करना था। छत पर पहुंचना था, जहां निक्की से उसके मिलने का बेआवाज ठौर था।

एक मकान छोड़कर रहती निक्की का सिर अब उसकी छत पर जड़े जंगले से नीचे झांक जाता था, तो वह जान जाया करता था कि उसे जाना है। ऊपर छत पर। जैसे भी। जाकर निक्की की नटखट इच्छाओं का पालन करना है। म्यानी से लगी पीछे को उतरती बंद सीढ़ियों में खड़ी निक्की उसका इंतजार कर रही होगी। जाकर निक्की को बांहों में भींचना है। इतना भींचना है कि....

उसे याद है कि पसलियों की इस कड़कड़ाहट से एक बार निक्की की चीख निकल गई थी। निक्की का भाई कृपाल कहीं आस-पास होगा, यह सोचकर उसने निक्की का मुंह इतनी जोर से दबाया था कि वह दो-तीन सीढ़ियां नीचे लुढ़क गयी थी। पीठ छिली सो छिली घुटना भी घायल हो गया था। जोड़ के पास एक गुम्मड़ भी उभर आया था।

‘रौशन, आज तेरे सिर पर सनीचर सवार है। अब मैं क्या कहूंगी नीचे जाकर?’ निक्की घबराई थी।

‘अरे छोड़... कुछ भी कह देना। तुझे तो अनगिनत बहाने बनाने आते हैं।’

उसी शाम उसने अपनी मां से सुना था कि घर छोड़कर रहती चावला साब की लड़की स्कूल में गिर गई है। पीठ छिल गई है। घुटने पर गुम चोट आई है। गुम चोट बड़ी जबर्दस्त होती है। बड़ी लम्बी चलती है। यह भी कि शाम को उसकी मां को निक्की की राजी-खुशी पूछने निक्की के घर जाना है।

इस समय खिड़किया-दरवाजे बंद करने की बात तो वह पहली सीढ़ी पर पैर रखते ही भूल चुका था। वह लपककर सीढ़ियां चढ़ जाना चाहता था। बलवाइयों के बारे में पिताजी से जो बातें उसने सुनी थीं, वह जल्द से जल्द निक्की को बता देना चाहता था... आगाह कर देना चाहता था... मन में एक की टंकार बज रही थी— निक्की निक्की... निक्की। निक्की को वह सब पता नहीं होगा जो उसके पिताजी को पता है— वे आ चुके हैं। घर-घर में घुस रहे हैं। मर्दों को तो जान से ही मारते जा

रहे हैं, बाहर घसीट-घसीट कर पेड़ों से बांध रहे हैं। उनकी आंखों के ऐन सामने उनकी औरतों को.... उफ्... उफ्फ... उसका दम घुटने लगा।

छत पर पहुंचा था तो थर्रा गया था। नीचे कहीं चीख-पुकार मची थी। शायद वे निक्की के घर के अंदर तक पहुंच चुके थे। निक्की की छत से नीचे जाती सीढ़ियों के ऊपरी सिरे पर एक बलवाई पहरेदारी में खड़ा था। उसे अभी तक याद है, अंगारे-सी आंखें और ठोड़ी पर कसी एक काली पट्टी।

रौशन को आगे बढ़ते देखा तो एक कड़कड़ाती खिड़की हवा में गूंजी ऐ...ई लौंडे खबरदार...अभी तेरी भी खबर लेता हूं। वहां से खुद हिलने की बजाय उसने बल्लम की तमतमाती नोक रौशन की ओर तान दी थी।

उसे ठीक से पता नहीं कब उसके पिता उसे ढूंढते छत पर आ गए थे, कब उसकी पीठ पर पीछे से लात जमाई थी, कब सीढ़ियों पर से उसे घसीटते नीचे लाए थे। उसे केवल अपनी कलाई पर पड़ती पिताजी की मजबूत पकड़ याद है और अपने कानों में थरथराती निक्की की घायल गहराती चीख। चीख ऐसी थी जैसे जिबह होते जानवर के गोश्त में से कोई पागल दानेदार दरांती वापस खींचता है... खींचता चला जाता है।

बर्फ के पक्के कांच पर सुराख करता इस समय वह ऐसा बिखरा, ऐसे सुबका जैसे वक्त के सीने पर खून की जमी चीख पिघलती है— कतरा-कतरा, खून-खून, आंसू-आंसू। खूब रोया। जी भर रोया। इतने वर्षों बाद... चालीस जमा उन्नीस साल का एक बूढ़ा।

जबकि तय तो यही हुआ था कि आजादी की जंग है, इसे लेकर कभी भी... किसी भी बात पर रोया नहीं जाएगा।

